

# स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५३८ अंक-१७९, वर्ष-१६, अगस्त-२०१२

आसो सुद ८, सोमवार, दि.९-१०-१९७८, बहनश्री के  
वचनमृत-३०६ पर प्रवचन, प्रवचन - ११४

रुचिका पोषण और तत्त्वका मंथन चैतन्यके साथ एकाकार हो जाय तो कार्य होता ही है। अनादिके अभ्याससे विभावमें ही प्रेम लगा है उसे छोड़। जिसे आत्मा रुचता है उसे दूसरा नहीं रुचता और उससे आत्मा गुप्त-अप्राप्य नहीं रहता। जागता जीव विद्यमान है वह कहाँ जायगा? अवश्य प्राप्त होगा ही।३०६॥

‘वचनमृत’ ३०६ वाँ का आखिर का बोल है। फिर से। ३०६ बोल। सूक्ष्म है, भाई! यह तो तत्त्व की बात (है)। ३०६ बोल आखरी शब्द। ‘जागता जीव विद्यमान है वह कहाँ जायगा? जागता जीव खड़ा है।’ क्या कहते हैं? सूक्ष्म बात है प्रभु! जिसे सम्यक्दर्शन पाना हो, धर्म की प्रथम सीढ़ी, तो कहते हैं कि, प्रभु! जो अंदर में आत्मा है वह जागृत जीव मौजूद है न! वह शरीर, वाणी, मन से तो पर है, परन्तु अंदर में दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम शुभाशुभ हो इससे पर है। इसकी एक समय की अवस्था है, इससे जागृत जीव ध्रुव तो पर्याय से भिन्न मौजूद है न! आहा..हा..! क्या कहते (हैं)?

ज्ञायकतत्त्व, चैतन्य तत्त्व, चैतन्य प्रकाश के नूर का पूर, भगवान जागृत ज्योत, खड़ी है न! खड़ा है- विद्यमान है मतलब ध्रुव है न! खड़ा में वह भाव है। आहा..हा..! तू अंतर एक समय की पर्याय में पर्याय से देख कि यह जागृत जीव विद्यमान है। देखनेवाली है वह ज्ञान की वर्तमान पर्याय है। परन्तु पर्याय की खबर (नहीं हो), द्रव्य की (खबर नहीं हो) बापू! कठिन बात है, बापू! वीतरागमार्ग। आहा..हा..! जो वर्तमान ज्ञान की पर्याय है, वह पुण्य-पाप के राग से भिन्न है और वह पर्याय जागृत जीव अंतर में है उसे देखती है। आहा..! ऐसी बात है।

प्रश्न :- नीद्राधीन जीव कैसा कहा जाता है?

उत्तर :- नीद्राधीन हुआ ही नहीं। वह त्रिकाल जागृत ज्योत भगवान चैतन्यप्रकाश का नूर। अरे..! जीव को कहाँ पता है कि वस्तु अंदर में क्या है। जिनेश्वर त्रिलोकनाथ परमेश्वर ऐसा फरमाते हैं, भाई! प्रभु! तू आत्मा अंदर जागृत ज्योत चैतन्यरस का कंद है न! आहा..हा..! जागता जीव



मतलब कभी सोया ही नहीं। उसे कभी नीद्रा नहीं आयी। आहा..हा..! उसके स्वभाव में कभी अशुद्धता नहीं आयी, उसके स्वभाव में कभी अपूर्णता नहीं आयी। उस त्रिकाल जागृत ज्योत को कभी आवरण नहीं आया। आहा..हा..! कठिन बात, भाई! वीतरागमार्ग को समझना यह बहुत अलौकिक बातें हैं। ये क्रियाकांड किये, दया का पालन किया, व्रत किया, भक्ति की ये सब शुभराग की क्रियाएँ हैं। वह कोई धर्म नहीं है और धर्म का कारण भी नहीं।

मुमुक्षु :- वह करते-करते होगा न?

पूज्य गुरुदेवश्री :- वह सब करते-करते जहर पीते-पीते कस्तूरी का डकार आने जैसा है। लहसून खाते-खाते कस्तूरी का डकार आये तो वैसे राग की क्रिया करते-करते धर्म होगा। आहा..हा..! लोगों को पता नहीं, बापू! मार्ग की खबर नहीं। आहा..हा..! यह तो मिट्टी-धूल है, इससे तो प्रभु भिन्न है परन्तु कर्म के आठ रजकण हैं, इससे तो भगवान अंदर में भिन्न है जबकि भीतर में पुण्य व पाप के जो विकल्प होते हैं सो तो विकृत, विकारी विभावदशा है। वह कोई आत्मा में नहीं है और आत्मा इसमें है नहीं। आहा..हा..! उस विभाव को जाननेवाली वर्तमान ज्ञान अवस्था है, उस ज्ञान की अवस्था में पूरा द्रव्य नहीं है। पूरा तत्त्व जो आत्मतत्त्व है वह एक अंश में तत्त्व नहीं है। आहा..हा..! ऐसी बातें जिसका कोई ठिकाना नहीं है ऐसा लोगों को लगे। क्या करे? भाई! आहा..हा..!

कहते हैं कि, एक समय की जो ज्ञान की पर्याय है वह अभी प्रगट, वह पर्याय में पूरा द्रव्य नहीं आया, द्रव्य जो वस्तु है वह तो जागृत ज्योत चैतन्य मूर्ति ध्रुव मौजूद है कायम। ऐसी बात है, भाई! क्या करे? भाषा तो बहुत संक्षेप में है परन्तु जागृत ज्ञायक स्वरूप ध्रुव है, त्रिकाल है, त्रिकाल है। वह जागृत ज्योत प्रभु! खड़ा है न

वह। मतलब ध्रुव है न यानी? अविनाशी तत्त्व है न वह। आहा..हा..! वह तत्त्व तो परिणमता भी नहीं। परिणमन करती है वह पर्याय है। आहा..हा..! अब ऐसी बातें कठिन पड़े क्या करे? वह जागृत ज्ञायक स्वभाव, ज्ञायक स्वभाव का पिण्ड प्रभु खड़ा है न ऐसा ध्रुव है न। प्रभु! वहाँ नजर कर। आहा..हा..! तुझे भगवानआत्मा की प्राप्ति होगी। तब तो तुझे सम्यग्दर्शन होगा। ऐसी बात है।

‘जागता जीव विद्यमान है न!’ हिन्दी में ‘है’ लेना। ‘वह कहाँ जायगा।’ आहा..हा..! ध्रुव स्वरूप जागृत ज्ञायक स्वरूप है वह कहाँ जाये? वह कहाँ राग में आयेगा? कहाँ शरीर में आयेगा? कहाँ एक समय की इसकी पर्याय, इसमें आये? आहा..हा..! जागता जीव ध्रुव है न आहा..हा..! उत्पाद-व्यय-ध्रुव-युक्तम् सत्। समझ में आया? आहा..हा..! यह आखरी पंक्ति में बातें हैं न? भाई के लड़के ने बिनती की थी। वह बात। आहा..! यहाँ तो परमात्मा की वाणी यह है। आहा..हा..! आखरी शब्द है न? जागृत जीव, ज्ञायक जीव, जाननेवाला जीव, ज्ञाता जीव, दृष्टा जीव आहा..हा..! वह ध्रुव है न। वह कहाँ जाये? ध्रुव कहाँ जाये? ध्रुव कहाँ पलटती पर्याय में आयेगा? ध्रुव क्या शरीर में आयेगा? आहा..हा..! ध्रुव कहाँ दया, दान के राग में, विकल्प में आयेगा? ध्रुव तो विद्यमान है, ध्रुव त्रिकाल है आहा..हा..!

‘जागता जीव विद्यमान है वह कहाँ जायगा? अवश्य प्राप्त होगा ही।’ जहाँ ध्रुव है वहाँ नजर कर तो तुझे प्राप्ति होगी, प्रभु! आहा..हा..! कठिन काम। ऐसी बातें हैं। ग्यारहवीं गाथा में कहा है न? ‘भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो’ यह शब्द है। भूतार्थ त्रिकाली भगवान ज्ञायक स्वरूप ध्रुव, उत्पाद-व्यय की पर्याय है इससे भी भिन्न। दया, दान के, राग के विकल्प से तो भिन्न है, परन्तु उस समय की पर्याय है उस पर्याय

जितना वह नहीं, उससे भिन्न वस्तु है। आहा..हा.. ! वह जागृत ज्योत ध्रुव है, वह कहाँ जायेगी ? किसमें आयेगी ? किसमें समायेगी ? आहा..हा.. ! कहाँ जाये ? ध्रुव है वहाँ नजर कर, जरूर तुझे ध्रुव की प्राप्ति होगी, भाई ! आहा..हा.. ! तेरे सम्यक्दर्शन में ध्रुव पर नजर करेगा तब तुझे सम्यक्दर्शन होगा। आहा..हा.. !

मुमुक्षु :- ध्रुव तो यहाँ तारे में दिखता है।

पूज्य गुरुदेवश्री :- वह ध्रुव (नहीं)। वह ध्रुव को क्या कहते हैं ? उस ध्रुव के आधार से तो जहाज चलते हैं, यहाँ इस ध्रुव के लक्ष से सम्यक्दर्शन होता है। ऐसी बात है, प्रभु ! क्या करे ? भाई ! अभी तो ऐसी गड़बड़ी चली है न !

मुमुक्षु :- कैसी गड़बड़ी चली है ?

पूज्य गुरुदेवश्री :- यह राग से धर्म हो या दया, दान से धर्म हो या व्रत पालने से धर्म हो या उपवास करने से धर्म हो। ये तो सब राग की क्रियाएँ हैं, प्रभु ! तुझे खबर नहीं। वह तो वृत्ति का उत्थान है। उसमें स्वरूप कहाँ है ? आहा..हा.. ! दो खत आये थे। ये फिर से पढ़ेंगे, भाई ! बहुत प्रसन्नता व्यक्त करते थे। वह पार्सल भेजा था न यहाँ से ? चारसो का पहुँच गया और वह भी मुक्त में भेजा था इसलिये राजी हो गया। ओहो..हो.. ! और वहाँ 'जालना' में स्थानकवासी के साधु का चातुर्मास है। आनंद ऋषी, स्थानकवासी के आचार्य हैं और इनके अनुयायी 'बंगलूर', 'हैद्राबाद' वहाँ हमलोग गये थे न ? बहुत लोग आते थे। वे लोग आते हैं बहुत, यानी कि हमारे पास दर्शन करने आते हैं। स्थानकवासी साधु के पास जाये तो ये तो दिगम्बर दिखे न। आते हैं और मेरे पास आकर बेचारे... वैसे तो उसमें लिखा था कि, मेरे में कोई गुण तो है नहीं। परन्तु आते हैं वे सब 'चंपाबहिन' का पुस्तक माँगते हैं। बाहर प्रसिद्ध हो गये। वहाँ तेरापंथी भी है वहाँ। स्थानकवासी के तेरापंथी है न वे तो ?

तुलसी। उनका भी पंथ है। दिगम्बर है, श्वेतांबर है, स्थानकवासी है, वैसे इसने जो 'बहिन' के पुस्तक का प्रचार किया, वे लोग माँगते हैं, क्या है यह ? अरे.. ! भाई ! यह वस्तु जो है तत्त्व की वस्तु है। आहा..हा.. ! सम्यक्दर्शन प्रथम कैसे पाना और इसकी रीत व पद्धति क्या है ? वह है इसमें। आहा..हा.. !

चारित्र तो पीछे सम्यक्दर्शन होने के बाद स्वरूप में रमणता हो इसे चारित्र कहते हैं। चारित्र की क्रिया यह देह की क्रिया, नग्न और पंच महाव्रत के परिणाम वे सब तो राग हैं, वह कोई चारित्र नहीं। आहा..हा.. ! चरना सो तो (अलौकिक बातें हैं)।

प्रथम जागृत ज्योत, चैतन्य के तेज से भरा भगवान ध्रुव है न ! जरूर प्राप्त होगा। प्रभु ! वहाँ तू जा और नजर कर, तुझे प्राप्ति होगी। आहा..हा.. ! तेरी नजर में राग और द्वेष, पुण्य और पाप व शरीर आदि पर तुम्हारी नजर है, उस नजर को प्रभु ! बदल दे। इस ज्ञान की पर्याय का स्वभाव स्व-परप्रकाशक है। पर्याय का, हँ ! वह स्व-परप्रकाशक में स्व का प्रकाश नहीं करके केवल पर को प्रकाशित करता है जैसे, राग है, पुण्य है, शरीर है, स्त्री है और ये सारे छः द्रव्य हैं, सो तो परप्रकाशक हुआ। वह ज्ञान की पर्याय तो मिथ्या हुई। आहा..हा.. ! वह ज्ञान की पर्याय जिस ध्रुव की है, उस पर नजर करे तब सम्यक्दर्शन होता है। अब ऐसी कई बातें हैं। तब तो अभी चतुर्थ गुणस्थान हैं ! पाँचवाँ जो यह श्रावक-बावक कहलाता है अभी वे सब में कोई दम नहीं है। आहा..हा.. ! बापू ! मार्ग भिन्न है, भाई ! आहा..हा.. !

नित्यानंद का नाथ प्रभु ! अविनाशी वस्तु पड़ी है न अंदर। आहा..हा.. ! ध्रुव है न ? नित्य है न ? अखण्ड है न ? एकरूप है न ? सामान्य है न ? ये सारे इसके विशेषण हैं, प्रभु ! आहा..हा.. !

सूक्ष्म बात, भाई! ये तो सम्यक्दर्शन प्राप्त करने की पद्धति कौन-सी है, यह बात है। वैसे मान ले कि, देव-शास्त्र-गुरु को हम मानते हैं इसलिये सम्यक्दर्शन है। वह सब मिथ्या बातें हैं। ऐसा तो अनन्तबार किया वह कोई वस्तु नहीं है।

चैतन्यस्वभावी भगवान आत्मा जागृत ज्योत, जागृत स्वभाव से भरा भगवान है। वह ज्ञान के स्वभाव से भरा समुद्र, सागर है। वह है न! है उसे नजर में ले, तुझे जरूर प्राप्ति होगी। पर्याय को ध्रुव के सन्मुख कर। पर्याय है वह अनादि से ध्रुव से विमुख है। वर्तमान ज्ञान की पर्याय है वह अनादि से ध्रुव से विमुख है। वर्तमान ज्ञान की पर्याय है वह अनादि से स्वस्वरूप के विमुख है। वह यह राग किया और दया का पालन किया और भक्ति की ऐसे परिणाम को वह जानता है। आहा..हा..! इसमें कितना भरा है! परन्तु यह ज्ञान की पर्याय ध्रुव स्वरूप है, विद्यमान है, नित्यानंद है, इसे देख। नजर करे तो पर्याय में ध्रुवत्व की प्राप्ति (होगी)। ध्रुव पर्याय में आता नहीं, परन्तु पर्याय में ध्रुव का जितना सामर्थ्य है, उतना जीव को ज्ञान में, प्रतीति में आ जाता है। यह तो कैसा धर्म! भाई! जैनधर्म तो ये दया का पालन, व्रत करना, उपवास करना और कंदमूल नहीं खाना और ये सब अरे..! भगवान! बापू! वह तो सब!

मुमुक्षु :- भगवान के दर्शन करने, पूजा करना...

पूज्य गुरुदेवश्री :- ये पूजा करना, देरासर में दर्शन करना, भाई! वे सारी बातें शुभभाव की हैं, प्रभु!

मुमुक्षु :- रथयात्राएँ निकालना।

पूज्य गुरुदेवश्री :- ये रथयात्रा - आदि सब आहा..हा..! ये देरावासी लोगों में तो सिद्धचक्र की पूजा करो, ये करो, दहन करो। ये सब क्रियाएँ राग की हैं, बापू! आहा..! वैसा राग है सो धर्म नहीं।

मुमुक्षु :- परसन्मुख का भाव...

पूज्य गुरुदेवश्री :- वह तो परसन्मुख भाव है। आहा..हा..! समझ में आया? ये इसका इतना अर्थ होता है अभी तो यह, हँ! भाषा सादी है न!

जागृत जीव ध्रुव है। 'उभो'-खड़ा है मतलब ध्रुव। नित्य जागृत ज्योत प्रभु आत्मा नित्य वस्तु है। वह कहाँ जाये? ध्रुव है सो नित्य है वह कहाँ जाये? आहा..हा..! नित्य वज्र का बिंब जैसा होता है... आहा..हा..! वैसे ज्ञान का जागृत स्वरूप का बिंब प्रभु है। अरे..! अभी तो किसी दिन विचार भी न किया हो। आहा..!

'जरूर प्राप्त होगा ही।' है ध्रुवरूप वह ध्रुव प्राप्त की प्राप्ति होगी ही। उसे दृष्टि में लेने से... आहा..हा..! अपनी ज्ञान की पर्याय में है उसे पर्याय में जानने से जरूर प्राप्ति होगी। आहा..हा..! अरे! ऐसी बात है। ऐसा धर्म होगा? भाई! यह तो वस्तु है बापू! क्या करे? आहा..! तीन लोक का नाथ, 'सीमंधर' भगवान प्रभु विराजते हैं, भरतक्षेत्र में उनका विरह हो गया। और लोगों ने अपनी कल्पनानुसार धर्म को स्वरूप दे दिया। भाई! तीनलोक के नाथ 'सीमंधर' प्रभु महाविदेह क्षेत्र में विराजते हैं। वहाँ से आयी वाणी यह है। आहा..हा..! यह इसका इतना अर्थ हुआ। २० मिनट हुई, अब ३०७, बाद का ३०७।

ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (अगस्त-२०१२) का शुल्क डॉ. महेश महेता और डॉ. गीता महेता, मुंबई के नाम से साभार प्राप्त हुआ है, जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।



श्री परमागमसार वचनमृत-३४६-३४७ पर  
पूज्य भाईश्री शशीभाई का प्रवचन,  
प्रवचन नं.१७० (दि.३०-८-१९८३, भावनगर)

राग-द्वेषरूप विकार-भाव, राग-द्वेषकी परिणति दुःख है। उससे मुक्त होनेकी इच्छावाले मोक्षार्थी पुरुष को सर्वप्रथम क्या करना? – कि आत्माको जानना। यह तो चैतन्य रत्नाकर है। आत्मा चैतन्य-रत्नोंसे भरपूर है, विकारकी वृत्ति उससे भिन्न है। पुण्य-पाप रूप विकारोंसे भिन्न होकर सर्वप्रथम ज्ञायक सच्चिदानन्द प्रभु को जानो। ३४६।

‘राग-द्वेषरूप विकार-भाव, राग-द्वेष की परिणति दुःख है।’ समयसार की १७-१८ गाथा के (प्रवचनमें से) चुना हुआ यह बोल है। बहुत से बोल लिये हैं। ३५४ तक के बोल ‘समयसार’ की १७-१८ गाथामें से लिये हैं। ‘समयसार’ की यह १७-१८ गाथा ऐसी है कि जिसमें बहुत सरल उपाय, आसान में आसान उपाय आबाल-गोपाल की समझ में आ जाये ऐसा उपाय समझाया है। वह विषय इस गाथा में बहुत अच्छी तरह प्रदर्शित हुआ है। इस प्रवचन में भी बहुत सी बातें गुरुदेवश्री ने खोली हैं।

‘राग-द्वेषरूप विकार-भाव, रागद्वेष की परिणति दुःख है।’ तमाम प्रकार के विभाव - राग हो, द्वेष हो, प्रशस्त हो, अप्रशस्त हो, राग और द्वेष, प्रशस्त भी है और अप्रशस्त भी होते हैं, उन तमाम की ‘परिणति दुःख है।’ सब में सामान्य, सारे विधविध प्रकार के भाव में विकार हैं, इन सब में कोई सामान्य तत्त्व है तो वह दुःखरूप तत्त्व है, दुःखभावरूप तत्त्व है। दुःख सब में है, सुख किसी में नहीं है।

‘उससे मुक्त होने की इच्छावाले मोक्षार्थी पुरुष को सर्वप्रथम क्या करना?’ ऐसा कहते हैं। वहाँ एक शब्द आया है, कि मोक्षार्थी जीव प्रयत्न करेगा। दूसरा जीव प्रयत्न नहीं करेगा।

शब्द क्या इस्तेमाल किया है? मोक्षार्थी। पूर्ण परिपूर्णता का जिसको ध्येय है। मोक्ष नाम पूर्णदशा। उसका वह अर्थी। (मोक्ष) प्राप्ति की अभिलाषावाला जीव है, ऐसा जिसने ध्येय बांध लिया है कि पूर्ण शुद्ध होना है। संपूर्ण निर्दोष होना है, संपूर्ण पवित्र होना है एक दोष का अंश भी मुझे नहीं चाहिये मतलब नहीं चाहिये। किसी भी कीमत पर नहीं चाहिये। ऐसा जो मोक्षार्थी है, ऐसी यहाँ प्रथम शर्त ली है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यरूप परिणमन करने हेतु मोक्षार्थी होने की शर्त है। ऐसे ही प्रवेश कर ले कि चलो शास्त्र का अध्ययन कर लें, पढ़ लें, रट लें। ऐसे कोई, यहाँ मोक्षमार्ग में प्रवेश नहीं मिलता। वहाँ गाथा में ‘मोक्ष’ शब्द लिया है। ऐसा मोक्षार्थी दुःख से मुक्त होना चाहता है। दुःख से मुक्त होना चाहता है मतलब सर्व प्रकार के विकारभाव से मुक्त होना चाहता है। जितने भी विकारभाव है सब में दुःख हैं। विकार से मुक्त होना है कहो या दुःख से मुक्त होना है कहो - दोनों एक ही बात हैं। इसमें कहने का आशय नहीं बदलता।

ऐसे ‘मुक्त होने की इच्छावाले मोक्षार्थीपुरुष को सर्वप्रथम क्या करना?’ पुरुष नाम यहाँ आत्मा। ऐसे ‘मोक्षार्थी पुरुष को...’ यानी कि

वैसे आत्मा को। पुरुषार्थ करे वह पुरुष ऐसा लेना है। 'सर्वप्रथम क्या करना?' पहली बात यह है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र के तीन बोल में भी प्रथम यह बात ली है कि, सर्वप्रथम आत्मा को जानो। प्रथम श्रद्धा करना या प्रथम जानना? कि, प्रथम जानना। ऐसे बात ली है। दूसरी क्रिया को तो अवकाश नहीं दिया कि पहले तू तेरी शक्ति को अन्य स्थान में लगा, वह तो बात ही नहीं है। सब से पहले, सर्वप्रथम तेरा मूलस्वरूप (को जान) कि, वास्तव में मैं कौन हूँ? कैसा हूँ? इसे जानने में तेरे ज्ञान की शक्ति को और तेरे पुरुषार्थ की शक्ति को इसमें लगा दे।

**'आत्मा को जानना। यह तो चैतन्यरत्नाकर है।'** आकर मतलब समुद्र। जैसे समुद्र में बहुत रत्न होते हैं वैसे आत्मा गुणसमुद्र हैं। 'पूज्य बहिनश्री' यह शब्द का प्रयोग करते हैं। गुरुआज्ञा में चलना यह तो तेरे गुणसमुद्र को प्रगट होने का कारण है। ऐसे लिया है। गुरुआज्ञा में चलना वह तो तेरा गुणसमुद्र प्रगट करने में कारण है। ऐसे बात ली है।

मुमुक्षु :-...

पूज्य भाईश्री :- याद नहीं आता परन्तु विषय तो अच्छा लिया है। वचनामृत है? पीछे एक जगह लिखा है। 'महापुरुष से डरना' ऐसे करके बात ली है। इसमें यह बात है।

मुमुक्षु :- ३३४ बोल।

पूज्य भाईश्री :- ३३४ है। **'आत्मार्थी को श्रीगुरु के सान्निध्य में पुरुषार्थ सहज ही होता है।'** ज्ञानी के समागम में पुरुषार्थ सहज चलने का यह कारण है। अकेला अपने आप प्रयत्न करने में भुलावे में पड़ने पर पता नहीं चलेगा। कहाँ मेरी भूल हो रही है, यह कौन बतायेंगे? आत्मार्थी जीव हो और ज्ञानी का सान्निध्य मिल जाये, गुरु का सान्निध्य मिल जाये तो उसे पुरुषार्थ की सही दिशा मिल जाती है, भूल से बच जाये और सहज

पुरुषार्थ चले, कम परिश्रम से कार्य हो जायेगा। ऐसा एक प्रकार उत्पन्न होता है। यह तो जो अनुभव किया है उसे लिखते हैं।

**'मैं तो सेवक हूँ - यह दृष्टि रहनी चाहिये।'** **'मैं कुछ हूँ' ऐसा भाव...** जैसे मुझे भी सब पता है, मैं भी जानता हूँ। मुझे भी समझ हो गई है, नहीं समझा हूँ सो बात नहीं है, मैं भी कुछ समझता हूँ, वैसे **'मैं कुछ हूँ' ऐसा भाव हो तो सेवकपना छूट जाता है।** मैं बहुत समझदार हूँ, ऐसा माननेवाला तो बिलकुल गिरेगा ही मानो परन्तु यहाँ कहते हैं कि, **'मैं कुछ हूँ'** ऐसी भी अगर आया तो उसका सेवकपना छूट जाता है। यह तो कितनी नम्रतावाले का काम है। ज्ञानी के सान्निध्य में भी कितना विनम्र होकर रहना - यह प्रकार दर्शाया है यहाँ पर।

**'सेवक होकर रहने में लाभ है। सेवकपने का भाव गुणसमुद्र आत्मा प्रगटने का निमित्त होता है।'** (यहाँ) चैतन्यरत्नाकर कहा न? आत्मा अनन्त गुणों का रत्नाकर है। अनन्त चैतन्यरत्न जिसमें भरे हैं। ये सारे गुणरत्न हैं। इसमें जो ज्ञानी के सान्निध्य में विनम्रता है, बहुत मार्मिक विषय है यह।

'गुरुदेवश्री' एक दृष्टांत देते थे। समवसरण का दृष्टांत देते थे। ऐसा तो नहीं कहेंगे कि, आप यहाँ विनम्रपूर्वक रहना। क्योंकि वहाँ खुद पर बात आ जाती है। इसलिये (ऐसा कहते), इन्द्र होते हैं, सौ इन्द्र नमन करते हैं न? तीर्थकर तो शत इन्द्र वंदित हैं। ऐसे इन्द्र भी जहाँ पिल्लू की तरह (अतिशय गरजवान होकर) सुनने बैठते हैं। घमंडित होकर नहीं बैठते। **'मैं कुछ हूँ'** ऐसे अभिमानपूर्वक नहीं बैठते। इसका मतलब यह है कि अंदर में गुणसमुद्र जो भरा है उसे प्रगट होने में प्रथम ऐसी स्थिति आवश्यक है। इसका बाधक कारण प्रथम नष्ट होना जरूरी है। ऐसा बाधक कारण जबतक नष्ट नहीं होता तबतक जीव को सत्संग मिले

तो भी वह सत्संग फलवान नहीं होता है। ऐसी परिस्थिति है।

‘यह तो चैतन्यरत्नाकर है।’ जिस आत्मा को जानने का यहाँ पर उपदेश है वह आत्मा कैसा है? कि ‘चैतन्यरत्नाकर है। आत्मा चैतन्यरत्नों से भरपूर है। विकार की वृत्ति उससे भिन्न है।’ कोई भी शुभभाव है वह गुण नहीं। लौकिक में दातार में उदारता का गुण माना जाता है। उदारतापूर्वक दान देता हो तो कहते हैं कि यह भाई में ऐसा गुण है। जबकि ऐसे दान का, दया का राग जो है वह अलौकिक मार्ग में गुण नहीं कहलाता है। इतना फर्क है। इतना बड़ा फर्क है। जिसे लोग, सारा जगत गुण कहता है उसे जैनदर्शन दोष के खाते में चढ़ाता है, खताता है तो यह विचारणीय है कि, वहाँ गुण किसको कहते होंगे। विचक्षण जीव होगा सो तो चौंक जायेगा। अरे..! इसे दोष कहते हैं तो ये गुण किसे कहना चाहते हैं? गुण कैसे अलौकिक होंगे?

‘सोगानीजी’ ने एक पत्र में लिखा है कि क्षमा आदि विभाव क्षमादि का भाव, ऐसा दोष मैंने कभी किया ही नहीं। ये पर्युषण के बाद क्षमापना करते हैं कि नहीं? दूर ‘क्षेत्रवर्ती’ हो तो आपस में क्षमापना लिखते हैं, समीप में हो तो आपस में मिलकर क्षमापना माँगते हैं। व्यवहार की जगह जैनदर्शन का व्यवहार अन्य दर्शन के व्यवहार से अलग पड़ता है और सुंदर है, फिर भी अध्यात्म के प्रकरण में तो तमाम शुभभाव को दोष में गिना जाता है वहाँ क्षमा आदि के विकल्प को दोष माना गया है।

स्वभाव जयवंत वर्तो! ऐसी बात वहाँ ली है। विभाव जयवंत वर्तो नहीं परन्तु (स्वभाव जयवंत वर्तो।) जिस स्वभाव में क्षमा आदि विकल्प के दोषों का अभाव है ऐसा जो स्वभाव, जिसे यहाँ चैतन्य रत्नाकर कहा गया है। स्वभाव कहो या चैतन्य रत्नाकर कहो, वह जयवंत वर्तो, वह प्रसिद्ध हो,

वह प्रगट हो, वह विकसित होकर अवस्था में इसकी पूर्णता हो और यह सदा ही रहो ऐसी उनकी भावना है।

‘यह तो चैतन्य रत्नाकर है। आत्मा चैतन्य रत्नों से भरपूर है। विकार की वृत्ति उससे भिन्न है।’ विकार की जाति अलग और चैतन्यगुणों की जाति अलग। स्वभाव और विभाव परस्पर विरुद्ध होने से, ऐसे शुभाशुभ परिणामों को, आत्मा के स्वभाव के तिरस्कार करनेवाले कहे गये हैं। ‘समयसार’ की १९वीं गाथा। १७-१८ के बाद सीधी यही गाथा है। ऐसे विभाव कैसे हैं? कि आत्मस्वरूप के तिरस्कार करनेवाले हैं। इसके साथ मैत्री नहीं हो सकती। जो भगवानआत्मा का, भगवान का तिरस्कार करे, इसके साथ मैत्री नहीं की जाती। ऐसा है।

मुमुक्षु :- तत्त्व प्रचार को आत्मा की मैत्री नहीं होती।

पूज्य भाईश्री :- कठिन लगता है। कहते हैं कि दूसरे लोग ये सब शुभभाव करते हैं जबकि हम तो तत्त्वप्रचार का शुभभाव करते हैं। तो क्या दूसरे के शुभभाव का निषेध करे और अपने शुभभाव को अच्छा माने क्या? अरे! तत्त्व प्रचार का शुभभाव तो अभी निम्न कोटि का है, लेकिन शुद्धात्मा का विकल्प है वह तो उच्च कोटि का है। तो इसका भी यहाँ निषेध करते हैं तो तत्त्वप्रचार के विकल्प की तो बात ही नहीं रहती। यदि होते हैं तो तुझे इसका निषेध वर्तता है या नहीं इतना देख ले, बस! जब तो वे कभी न कभी छूटेंगे। इसके बजाय होते हैं इसलिये अच्छा है और कर्तव्यरूप है ऐसा माननेवाले को तो छूटने का अवसर ही नहीं है। क्योंकि तेरा अभिप्राय ही दूसरा है। राग का राग वह अनंतानुबंधी का राग है। ऐसा है। क्योंकि फिर उसका राग.. फिर उसका राग... फिर उसका अनुराग। यह राग कर्तव्य है - इस अभिप्राय में राग का अनुराग

है। ऐसा राग का राग अनंतानुबंधी का राग है, चाहे कैसा भी (राग) क्यों न हो।

भट्टी जैसा दुःख किसमें लिया? देवादिक के प्रति का भाव। देवादिक प्रति का भाव (उसमें) भट्टी सा दुःख लगना चाहिये। 'सोगानीजी' ने भगवान का नाम लेकर बात की है। देवादिक के प्रति का भाव - जबकि देव के प्रति तो स्तुति का भाव आता है। वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा समवसरण में साक्षात् विराजमान हो। प्रतिमाजी नहीं परन्तु साक्षात् विराजमान हो तो कितनी भक्ति आती है? आचार्यों को भक्ति आयी है। श्रावकों की तो क्या बात करें? आचार्यों ने भक्ति की है। निर्ग्रन्थ मुनियों को कि जिन्हें तिलतूषमात्र परिग्रह नहीं है, वीतरागता में झूलते हैं, राग को नष्ट कर रहे हैं और वीतरागता में झूल रहे हैं, उन्हें भी इतना भगवान की स्तुति का राग आया है। लेकिन राग आया है उसे उपादेय जानते हैं, ऐसी बात उन्हें नहीं है। वह बात तो चतुर्थ गुणस्थान में मिटा दी है। इसके बावजूद भी पूर्ण वीतरागता के अभाव के कारण राग के सद्भाव में ऐसा राग आता है तो भी इसका निषेध आता है। लोग राग आता है उसे तो जानते हैं परन्तु इसका निषेध वर्तता है इससे वे अनजान हैं। यह बात 'गुरुदेवश्री' ने खोली। आता है उसे जानते हैं, कि गणधरदेव भी इसे श्रवण करने तो जाते हैं, दिव्यध्वनि श्रवण करने का उन्हें भी राग आता है, भाव आता है। भाव होना मतलब राग होना। फिर हमें तो शास्त्रश्रवण का राग आयेगा ही न! ऐसा नहीं होता। उन्हें आता है साथ में निषेध वर्तता है जबकि तुझे निषेध बिना भाव आ रहा है। बड़ा उल्टा-सुल्टा फर्क है। तू ऐसे बराबरी कर ले यह ठीक नहीं है।

मुमुक्षु :- सेवक होकर रहना, ऐसा आदेश दिया जाता है।

पूज्य भाईश्री :- वह तो 'मैं कुछ हूँ' ऐसा

अभिमान न करने के लिये कहा। क्या कहा? तेरा जो मनुष्य पर्याय में मान का सेवन हो रहा है वह पिघल जाना चाहिये ऐसा कहते हैं। मान तो पिघल जाना चाहिये फिर आगे की बात है। बाद में अभी काफी बात बचती है, ऐसा कहते हैं। इसमें ये सब बातें हैं, कि विकल्प मात्र का, केवल हमारे प्रति का तो नहीं परन्तु विकल्पमात्र का भी तुझे निषेध आयेगा, तब तुझे शुद्धोपयोग प्रकट होगा।

मुमुक्षु :- प्रथम सेवकपने का भाव होना जरूरी है?

पूज्य भाईश्री :- वह तो अनिवार्य है। वह तो होना ही चाहिये। इसके अभाव में तो एक भी बात की सही समझ नहीं होगी। जीव को महिमा तो होती है। देव-गुरु-शास्त्र, साधक, ज्ञानी के प्रति महिमा न होने का तो प्रश्न ही नहीं है। परन्तु महिमा है इसलिये इसका राग लंबाते रहने की बात नहीं है। उनकी महिमा इसलिये है क्योंकि वे राग छुड़ाते हैं, इसलिये उनकी महिमा है। महिमा का भी प्रयोजन है। यँ ही महिमा करने की बात नहीं है।

'पुण्य-पाप के विकारों से भिन्न होकर सर्वप्रथम ज्ञायक सच्चिदानंद प्रभु को जानो।' मोक्षार्थी पुरुष को सर्वप्रथम क्या करना? ऐसे। पहले यह और पहले यह ऐसे नहीं। सर्वप्रथम क्या करना? मोक्षार्थी तो रखा। मोक्षार्थी हुआ उसे सर्वप्रथम क्या करना? कि उसे पुण्य-पाप के विकार से भिन्न होकर सबसे पहले सत् नाम शाश्वत रहनेवाला, शाश्वत हयाती का धारक चैतन्य आनंदप्रभु आत्मा है, उस चैतन्यगुण से, अनन्त चैतन्यचिन्ह जिसका है, अनन्त आनंद है, ऐसे सत्त्व को, तत्त्व को पहले अंतरंग में जानना। इसे जानने पर शुद्ध श्रद्धान का, सम्यक् श्रद्धान का उदय होगा। इसे जाने बिना सीधा श्रद्धान हो जाये ऐसा कभी नहीं बनेगा, ऐसा कहना है। भले ही उसी काल में हो तो भी।



मोक्षार्थी पुरुष याने? – कि अनन्त-सुख प्राप्ति और अनन्त दुःखके व्ययका अर्थी। परम आनन्द-लाभका अर्थी पुरुष –कि जो जगतका यश, कीर्ति, धन अथवा स्वर्गका अर्थी नहीं है :- वही मोक्षार्थी है। जो एक मात्र पूर्णानन्दकी प्राप्ति और रागद्वेषके दुःख के व्ययका अर्थी, वही मोक्षार्थी है। ३४७।

अब दूसरे बोल में यह बात ली है, कि 'मोक्षार्थी पुरुष याने?' ऐसा कहकर दूसरे बोल में बात उठायी। कि 'मोक्षार्थी पुरुष याने? - कि अनन्त सुख प्राप्ति और अनन्त दुःख के व्यय का अर्थी।' पूर्ण लेना है न? जिसे पूर्ण सुख चाहिये, परिपूर्ण आत्मिक सुख चाहिये और सदा के लिये चाहिये। उसमें भी ऐसा नहीं कि, चलो एक भव के लिये मिल गया और दूसरे भव में फिर से अवतार धारण किया ऐसी बात है नहीं। सदा के लिये 'सादि अनन्त अनन्त समाधि सुखमां' अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान सहित जो'

ऐसे 'अनन्त सुख प्राप्ति और अनन्त दुःख के व्यय का अर्थी।' दुःख का एक कण भी नहीं चाहिये ऐसा जिसका अर्थ नाम प्रयोजन है। अर्थी नाम प्रयोजन। प्राप्ति का प्रयोजन को अर्थी कहते हैं। धन की प्राप्ति के प्रयोजन को इस गाथा में धनार्थी का दृष्टांत लिया है। लौकिक में विद्यार्थी शब्द तो प्रचलित है। विद्या प्राप्ति का प्रयोजन (जिसका) है उसे विद्यार्थी कहते हैं। वैसे यहाँ मोक्ष की प्राप्ति के अर्थी को मोक्षार्थी कहते हैं। देखिये! सम्यक्दर्शन का अर्थी ऐसा नहीं लिया। एक-एक बोल में अनुभव है कि पहले से, अभी सम्यग्दर्शन तो बाद में प्राप्त करेगा, आत्मा की पहचानपूर्वक सम्यक् श्रद्धान उदित होगा तब सम्यग्दर्शन तो होगा, परन्तु इसके पहले मोक्षार्थी का ऐसा प्रकार है। दूसरे का ऐसा प्रकार नहीं होता ऐसा कहना चाहते हैं।

मुमुक्षु :- मिथ्यादृष्टि मोक्षार्थी...

पूज्य भाईश्री :- हाँ, मिथ्यादृष्टि मोक्षार्थी लिया है। किसी भी परिभ्रमण कर रहे जीव को

ऐसा एक निश्चय हो, एक ऐसा ध्येय बना ले कि, मुझे परिपूर्ण निर्दोष होना है, दोष का एक कण भी मुझे नहीं चाहिये। संपूर्ण शुद्धि चाहिये और इसके लिये ही मुझे जो कुछ भी करना है सो करना है, किसी अन्य प्रयोजन से कुछ नहीं करना है। ऐसा जिसने अंतरंग में दृढ निश्चय से ध्येय बाँधा है। सिर्फ ध्येय बाँधा है इतना ही नहीं, उसी ध्येय का अनुसरण करने में जिसके परिणाम लगे रहते हैं। तब उसे मोक्षार्थी कहते हैं। यह मोक्षार्थी की स्थिति है। ऐसा मोक्षार्थी न हो इसके पहले आत्मा को जानने हेतु प्रवर्तता है ऐसी बात नहीं ली।

सर्वप्रथम आत्मा को जानना। परन्तु किसको? कि मोक्षार्थी को। यह बात ली है। मोक्षार्थी पुरुष को आत्मा को जानना। तू मोक्षार्थी नहीं होगा और अनादि से किसी अन्य चीज का अर्थी होगा, फिर चाहे मानार्थी हो, संसारार्थी हो, धनार्थी हो, लौकिक-भौतिक सुख का अर्थी हो, तो तुम्हें हम आत्मा को जानने का उपदेश नहीं देते। तुझे हम नहीं कहते हैं कि तू सर्वप्रथम आत्मा को जानना। ऐसी बात है। इतनी condition तो रखी है। यह शर्त है।

शुरूआत जो है, मोक्षमार्ग से मोक्ष की (शुरूआत) होती है फिर भी इस मोक्षमार्ग की शुरूआत होने के पहले की जो एक शुरूआत है वह मोक्षार्थीपने से होती है। इसके लिये एक सूत्र दिया है, कि 'पूर्णता के लक्ष से शुरूआत ही वास्तविक शुरूआत हैं।' इसके पहले कोई शुरूआत नहीं है। अतः इस धर्म के क्षेत्र में किसी भी प्रवेश करनेवाले जीव को प्रथम यह विचार कर लेने जैसा है कि, 'मैं मोक्षार्थी होकर इसमें प्रवृत्ति

कर रहा हूँ या नहीं?’ बाद में सम्यग्दर्शन की, आत्मा को जानने की बात है। वरना दूसरी-दूसरी विडंबनाएँ खड़ी हुए बिना रहेगी नहीं। जानकारी होगी तो जानकारी का अभिमान हो जायेगा, क्षयोपशम बढ़ेगा तो इसका हो जायेगा, भाषा अच्छी होगी तो इसका हो जायेगा, थोड़ा बहुत त्याग करेगा तो इसका हो जायेगा।

मनुष्य पर्याय में बहुत बड़ी तकलीफ तो यह है कि इस पर्याय में सर्वप्रथम जीव को मान मार डालता है। यह बड़ी तकलीफ है। देव, नारकी, तिर्यच में दूसरी-दूसरी प्रकृतिओं का परिणाम में जोर रहता है। यहाँ मानप्रकृति प्रगाढ़ हो गई है। अतः कहीं भी पर्यायबुद्धि में, एक तो पर्यायबुद्धि अनादि से हैं, ऐसे में किसी भी प्रकार की विशेषता होते ही ‘मैं’ ऐसा हूँ, ऐसी विशेषतावान मैं हूँ ऐसा आये बिना रहता नहीं। इसलिये जीव को ऐसा कहते हैं, पूर्णता इसीलिये ली है, क्योंकि फिर तो वर्तमान में जो भी होगा वह तो अनन्तवें भाग में है। सम्यग्दर्शन हो तो भी अनन्तवें भाग में, बारहवे गुणस्थान की स्थिति का ज्ञान अनन्तवें भाग में, चार ज्ञान हुआ तो अनन्त वें भाग में है। अनन्त चतुष्टय प्रगट होने पूर्व गुण का विकास ही अनन्तवें भाग में लिया है। इतना अधिक अंतर तो बारहवें और तेरहवें गुणस्थान के बीच है, इसलिये वर्तमान में तो जीव को बहुत करना अभी बाकी है ऐसा लगे बिना रहेगा नहीं। इसलिये जीव को कहीं भी ‘मैं कुछ हूँ’ यह बात नहीं खड़ी होगी। यह बात शुरू से खत्म की जाती है। बहुत अनुभवपूर्ण विषय है न!

यह तो जो जीव मोक्षमार्ग में आरूढ़ हुए उन्होंने बात की है। आचार्य भी यह बात कर गये हैं। मोक्षार्थी पुरुष की बात तो आचार्य कर गये हैं। ‘कुन्दकुन्दस्वामी’ कर गये हैं। तो उन्होंने अपने अनुभव की फलश्रुति को दर्शाया है, सूत्र बनाया है। सूत्र में ज्यादा लिखने की जगह नहीं

होती। दो पंक्ति का पद बनाये कि सूत्र हो गया। कभी-कभी तो दो पंक्ति के एक चरण में सूत्र होता है तो कभी तो एक चरण के दो-चार शब्द में ही पूरा सूत्र होता है। सूत्र तो ऐसी वस्तु है। इसमें अंदर जो बात आती है वह उनके पूरे अनुभव के सारांशरूप फलश्रुतिमें से आती है। अतः उस बात को यहाँ लिखी है।

मुमुक्षु :- मोक्ष भी द्रव्य के अनन्तवें भाग में है...

पूज्य भाईश्री :- वह तो एक समय की पर्याय है, इससे सर्वज्ञ शक्ति कितनी? कि अनन्तगुण विशिष्ट। कितनी? अनन्तगुण विशिष्ट। क्योंकि ऐसी तो अनन्त पर्यायें इस सर्वज्ञशक्तिमें से प्रगट होगी। आत्मा की जो सर्वज्ञशक्ति उसमें से सर्वज्ञपनेरूप केवलज्ञान की पर्यायें अनन्त प्रगट होती है फिर भी वह शक्ति इतनी की इतनी रहती है। अनन्तकाल की अवस्थायें इसमें से प्रवाहित हो जाने के बाद भी, गुणमें से प्रवाहित हो जाने के बाद भी गुण वैसा का वैसा ही है। और ऐसे तो अनन्त गुणों का धनी है। आत्मा है वह ऐसे अनन्त गुणों का धनी है। इसका सामर्थ्य इतना है कि इसकी उपरी सपाटी को Touch किया कि, केवलज्ञान प्रगट हो जाता है। भीतर में प्रवेश करें तो इसका सामर्थ्य कथन में समाहित हो ऐसा प्रकार नहीं है। इस पर से हिसाब लगा दिया—कारणशुद्धपर्याय पर से।

‘पद्मप्रभमलधारीदेव’ मुनिराज ने ‘नियमसार’ की १५वीं गाथा में त्रिराशी द्वारा हिसाब समझाया है कि कारण परमात्मा और कार्यपरमात्मा इसमें एक कारणशुद्ध पर्याय है कारणपरमात्मा को, जो द्रव्य का वर्तमान है। उसे जैसे ही यूँ अवस्था सन्मुख होती है, कि अवस्था में केवलज्ञान प्रगट हो जाता है। वस्तु का सामर्थ्य कितना?! जिस धनुष्य को दूसरे राजा स्पर्श तक नहीं कर सकते थे उसे ‘रामचंद्रजी’ ने छुते ही तोड़ दिया तो ‘रामचंद्रजी’ का सामर्थ्य कितना? यह ‘सीताजी’

के स्वयंवर में। कोई-कोई तो उछल-उछलकर दूल गिरते थे। सामर्थ्य तो होवे नहीं लेकिन विचार आया हो कि चलो हम भी Try तो करें जैसे लोग उड़-उड़कर दूर गिरने लगे। जैसे करंट लगे जैसे। तो जिसने उठाने के साथ ही तीन टुकड़े कर दिये उनका सामर्थ्य कितना ? इसकी त्रिराशी समझाई है। क्योंकि वह विद्या से साध्य किया हुआ रहता है। आयुध सब विद्या से मंत्रित किये होते हैं।

यहाँ कहते हैं कि, जिसके वर्तमान के केवल सन्मुख होनेपर, पर्याय द्रव्य में अभेद तो हो नहीं सकती, वर्तमान के सन्मुख होने पर केवलज्ञान प्रगट हो जाये इतनी शक्ति सन्मुख होनेवाले को प्रगट हो जाती है। (तो) वस्तु कितनी महिमावंत ? कि इसकी तो बात करना असंभव है। ऐसी वस्तु है। ऐसे वहाँ पर वस्तु की पहचान करानी है। यहाँ तक रखते हैं।

### (श्रीमद् राजचन्द्र पत्रांक)

रुचिके अनुसार अथवा आपको जो भासित होता है उसे कल्याण मानकर प्रवृत्ति करते हैं, इस विषयमें सहज, किसी प्रकारके मानकी इच्छाके बिना, स्वार्थकी इच्छाके बिना, आपमें क्लेश उत्पन्न करनेकी इच्छाके बिना मुझे जो कुछ चित्तमें लगता है, वह बताता हूँ।

कल्याण जिस मार्गसे होता है उस मार्गके दो मुख्य कारण देखनेमें आते हैं। एक तो जिस संप्रदायमें आत्मार्थके लिये सभी असंगतावाली क्रियाएँ हों, अन्य किसी भी अर्थ-प्रयोजनकी इच्छासे न हों, और निरंतर ज्ञानदशापर जीवोंका चित्त हो, उसमें अवश्य 'कल्याणके उत्पन्न होनेका योग मानते हैं। ऐसा न हो तो उस योगका संभव नहीं होता। यहाँ तो लोकसंज्ञासे, ओघसंज्ञासे, मानार्थ, पूजार्थ, पदके महत्वार्थ, श्रावकादिके अपनेपनके लिये अथवा ऐसे दूसरे कारणोंसे जपतपादि, व्याख्यानादि करनेकी प्रवृत्ति हो गयी है, वह किसी तरह आत्मार्थके लिये नहीं है, आत्मार्थके प्रतिबंधरूप है। इसलिये यदि आप कुछ इच्छा करते हों तो उसका उपाय करनेके लिये जो दूसरा कारण कहते हैं, उसके असंगतासे सिद्ध होनेपर किसी दिन भी कल्याण होना संभव है।

असंगता अर्थात् आत्मार्थके सिवायके संगप्रसंगमें नहीं पड़ना, संसारके संगीके संगमें बातचीतादिका प्रसंग शिष्यादि बनानेके कारणसे नहीं रखना, शिष्यादि बनानेके लिये गृहवासी वेषवालोंको साथमें नहीं घुमाना। 'दीक्षा ले तो तेरा कल्याण होगा' ऐसे वाक्य तीर्थकरदेव कहते नहीं थे। उसका एक हेतु यह भी था कि ऐसा कहना यह भी उसके अभिप्रायके उत्पन्न होनेसे पहले उसे दीक्षा देना है; वह कल्याण नहीं है। जिसमें तीर्थकरदेवने ऐसे विचारसे प्रवृत्ति की है, उसमें हम छः छः मास दीक्षा लेनेका उपदेश जारी रखकर उसे शिष्य बनाते हैं, वह मात्र शिष्यार्थ है, आत्मार्थ नहीं है। पुस्तक, यदि सब प्रकारके अपने ममत्वभावसे रहित होकर ज्ञानकी आराधना करनेके लिये रखी जाय तो ही आत्मार्थ है, नहीं तो महा प्रतिबंध है, यह भी विचारणीय है।

यह क्षेत्र अपना है, और उस क्षेत्रकी रक्षाके लिये वहाँ चातुर्मास करनेके लिये जो विचार किया जाता है, वह क्षेत्रप्रतिबंध है। तीर्थकरदेव तो ऐसा कहते हैं कि द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे और भावसे—इन चारों प्रतिबंधसे यदि आत्मार्थ होता हो अथवा निर्ग्रन्थ हुआ जाता हो तो वह तीर्थकरदेवके मार्गमें नहीं हैं, परंतु संसारके मार्गमें है। इत्यादि बात यथाशक्ति विचारकर आप बताइयेगा। लिखनेसे बहुत लिखा जा सके, ऐसा सूझता है, परंतु अब यहाँ स्थिति-विराम करता है।

लि. रायचंदके प्रणाम।

### धन्य अवतार !

पूज्य बहिनश्री चंपाबेन के प्रति परम पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के उद्गार

ता.१९-९-८०

आहाहाहा ! बहिनकी योग्यता ! ...यह (बहिनकी यह वाणी) तो अंकित होना है पत्थरोंमें। ढाई लाख रुपये उस दिन (श्रावण कृष्णा दूजको) हो गये। (वचनामृतका) मकान बनाया जायगा।



राजकोट, सन् १९८०

यह बहिनके वचन हैं। अंतर आनन्द के अनुभवमें से आयी हुई बात है। बहुत जोर है अंतरका, अप्रतिहत भावना। आत्माका सम्यग्दर्शन और अतीन्द्रिय आनन्द की अनुभूति—उसमें से यह बात आयी है। आनन्द के स्वाद में मुरदेकी भाँति चलती है। आहाहा ! सच्चिदानन्द प्रभु हैं बहिन ! अंतरकी महत्ता के सामने बाहरका कुछ लक्ष ही नहीं है। अनुभवी, सम्यक्त्वी, आत्मज्ञानी हैं। आत्मा का अनुभव तो है परन्तु साथ ही असंख्य अरब वर्षों का जातिस्मरणज्ञान है। परन्तु लोगों को बैठना कठिन पड़े।



बहिन (चंपाबेन) तो जैनकी मीरांबाई हैं। .....भान सहितकी भक्ति है, अंधी दौड़ नहीं है।



बहिन को तो एक आनन्द आनन्द आनन्द ! और दिनभर सहज निवृत्ति; बस, और कुछ भी नहीं। कोई वन्दन करे या न करे उसके सामने भी नहीं देखती। किसीके साथ कोई औपचारिक बातचीत नहीं।



ता.२९-९-७८

जिसे आनन्द में जमावट हुई है, जो अतीन्द्रिय आनन्द के कौर ले रहा है और जो अतीन्द्रिय आनन्द को गट-गट पी रहा है ऐसे धर्मीका (साधकका) यह स्वरूप बहिनके मुखसे (वचनामृत में) आया है। बिलकुल सादी भाषा। प्रभु के समवसरण में इस प्रकार बात चलती थी, भाई ! ...अरे ! यह बात बैठे वह तो निहाल हो जाये ऐसा है। जिनेश्वर भगवान का जो फरमान है वह बहिन कह रही हैं।



ता.२९-९-७८

वचनामृत के एक-एक बोलमें, एक-एक शब्द में निधान भरे हैं। जिसे तल पकड़ना आता हो उसे अगाधता लगे स्वभावकी पर्याय ने प्रभुका संग्रहण किया, पूरा ज्ञानमें ले लिया। यह तो सिद्धान्तका दोहन है। जगत के भाग्य कि यह (बहिनकी पुस्तक) समय पर बाहर आ गई। थोड़े शब्दोंमें, सादी भाषा में मूल तत्त्व को प्रगट किया।



ता.१९-९-८०

चंपाबेन सचमुच अजोड़ रतन हैं; वे तो अंतर से बिलकुल उदास हैं; उन्हें बाहर का यह सब कुछ नहीं रुचता; परन्तु लोगोंको तो भक्तिप्रेम से बहुमान करने के भाव आयें न !

द्रव्यदृष्टि प्रकाश पत्रांक-२३-२४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाई का प्रवचन, दि.२-८-१९९१

‘जड़ से जड़ के सम्बोधनों में चेतन को कोई लाभ नहीं।’ अर्थात् प्रयोजन नहीं है और ‘वर्तमान पर्याय में पूर्व - उत्तर काल की पर्याय का ज्ञान विद्यमान है...’ अर्थात् स्वयं को अपनी पूर्व दशा का ज्ञान विद्यमान है, बाद में यह शास्त्र की बात याद रखूँ, यह न्याय याद रखना, यह कोई बात (नहीं रहती)। जब मोक्षपद है, वह स्वयं को लक्ष्य में है कि मेरा मोक्ष तो नजदीक ही है तो फिर स्मरण-मनन करके मैं आगे बढ़ूँ- ऐसी बात कहाँ रहती है ? पुरुषार्थ से आगे बढ़ ही रहे हैं और पुरुषार्थ का परिणमन भी पूर्ण (पद दिखता है), उसका फल - पुरुषार्थ का फल भी नजर के सामने दिखता है।

मुमुक्षु :- कृत्रिम प्रयास नहीं।

पूज्य भाईश्री :- नहीं, कृत्रिम प्रयास नहीं और याद रखने का इसलिए नहीं कि याद रखकर क्या काम है? याद रखने का प्रयोजन क्या? चर्चा में एक प्रश्न पूछा कि याद रखकर तुझे किसी को कहना है कि यह बात इस जगह लिखी है? अर्थात् कि मुझे इसका ज्ञान है - ऐसा तुझे अपना बताना है ? याद रखकर तेरा ज्ञान बताना है ? यह एक जीव को स्वयं को हानि करनेवाली स्वाभाविक वृत्ति होती है। याद रखनेवाले इस प्रकार याद रखने में ध्यान रखते होते हैं कि यह बात हम दूसरों को कह सकेंगे तो (कहते हैं) इसमें प्रयोजन की घात है, नुकसान क्या है ? प्रयोजन की बात है, इसलिए इस दृष्टि से बात चलती है। सहज याद रह जाए (वह) दूसरी बात है और याद रखने का लक्ष्य रखना, वह दूसरी बात है।

मुमुक्षु :- बाहर में वाचन-विचार में प्रवृत्ति रही, उसकी बाधा नहीं ली, लक्ष्य दूसरा हो गया, उसकी बाधा है।

पूज्य भाईश्री :- उसमें क्या है कि स्वरूप

का लक्ष्य कराने के लिए स्वाध्याय है। यदि पूर्णता के लक्ष्य से स्वाध्याय की प्रक्रिया शुरु की होवे तो स्वरूप लक्ष्य कराने के लिए स्वाध्याय है अथवा भावभासन के लिए स्वाध्याय है। भावभासन के लिए स्वाध्याय है, परंतु पूर्णता के लक्ष्य से स्वाध्याय करते हो तो। जो पूर्णता के लक्ष्य में तत्त्वज्ञान का अभ्यास होता है, तब उस लक्ष्य में अपने पूर्णपद का जो निश्चय करना, वह इसके गर्भ में यह बात रही हुई है।



यह विषय थोड़ा गूढ़ है कि जिसे पूर्णता का लक्ष्य है, उसे तो पूर्ण शुद्धपर्याय (प्रकट करना है) और जो स्वरूप है, वह तो उसे निर्णय करना बाकी है, परन्तु जिसने ऐसा ध्येय बाँधा, जिसे ऐसा लक्ष्य बँध गया, वह स्वरूप निर्णय में आये बिना नहीं रहेगा; इसलिए उसके गर्भ में यह बात पड़ी है। उसके गर्भ में स्वरूप निर्णय पड़ा है। यथार्थ लक्ष्य के गर्भ में स्वरूप निर्णय पड़ा है।

तत्त्वचर्चा में (एक) वचन आता है, नम्बर याद नहीं है, परन्तु बहुत अच्छा वचन आता है। पूर्ण शुद्धि के ध्येय में निर्णय पड़ा है - ऐसा कोई विषय, वचन आता है। बहुत अच्छा वचन है। अथवा शुद्ध स्वरूप की अन्तर खोज ऐसे ही जीव को होती है कि जिस खोज के परिणाम में उसे स्वरूप निश्चय होता है - ऐसा कहना है, वरना इतना ख्याल में आवे कि भाई! भीतर शोध करना चाहिए। ‘वर्ते अन्तर शोध’ - परन्तु अन्तर शोध यथार्थ हो कि जिस शोध के कारण से स्वयं का शुद्धस्वरूप शोध सके, खोज लिया जाए, ऐसी यथार्थ (शोध) कब चलती है ? कि पूर्णता का लक्ष्य होवे तो, वरना नहीं चलती; वरना उस

शोध में अन्यत्र चढ जाए; कुछ पता नहीं ये (कि) कहाँ चढ गया वह। उसे स्वयं को ही ख्याल न रहे - ऐसा है।

इसलिए स्वयं तो पुरुषार्थ से आराधना में लगे हुए हैं। उस पुरुषार्थ की इतनी प्रधानता है कि उसमें स्मरण करना और याद रखना (-ऐसा नहीं होता)

मुमुक्षु :- सहज ही...

पूज्य भाईश्री :- बोझा लगता है। उल्टा बोझा लगता है। यह बोझावाला काम कौन करे? जिस पुरुषार्थ से बोझा हलका होता है, वह करे या बोझा बढे-ऐसा काम करे? बोझा हलका (हो ऐसा) काम करे।

‘शुभयोग में भी थकान अनुभव करनेवाले जीव के लौकियोग की तीव्र दुःख दशा पर... हे करुणा सिन्धु ! करुणा करो.. करुणा करो - यह ही विनती।’ ऐसा। यह एक वाक्य विधि की विचित्रता पर निकाला है। जो धर्मात्मा शुभ परिणाम में भी थकान अनुभव करते हैं, जिनका ऐसा अनुभव है कि जिन्हें शुभ परिणाम में भी थकान लगती है, उसमें दुःख लगता है और ऐसे जीव को लौकिक ऐसा बोझा कोई आ पड़े कि उसे कुटुम्ब का भार उठाना पड़े, पूरे परिवार के भरण-पोषण का बोझा आ पड़े तो उसे कितना तीव्र दुःख होता है ? वह अशुभ परिणाम है, कितना तीव्र दुःख होगा। निर्धनता का दुःख नहीं, परन्तु उसे जो परिणाम करना पड़ते हैं, उनमें उसे बहुत दुःख लगता है; तीव्र दुःख दशा है। वह भगवानको विनती करता है कि है करुणा के सिन्धु! आप किंचित् करुणा करो... करुणा करो।

यहाँ अपने ‘श्रीमद्जी’ का वाचन चलता है न? उनके समस्त पत्रों में भी यह बात आती है कि अरे..रे..! यह व्यापार-धन्धे में रुकना पड़ता है। वे ही धर्मात्मा यदि निवृत्त हो, ‘श्रीमद् राजचन्द्र’ जैसे धर्मात्मा यदि निवृत्त हों; उनका भाव, उनकी

निर्मलता, उनका जो आन्तर-बाह्य जीवन है, वह ऐसा सुयोग्य प्रकार से सब मेल था कि अनेक जीवों को सन्मार्ग में आने का कारण होता है, सन्मार्ग के लाभ का कारण होता। एक तराजू के पलड़े में अनेक जीवों के सन्मार्ग में आने का लाभ रखें और एक तराजू के पलड़े में व्यापार से होती उनकी कमाई रखें या उनके कुटुम्ब-परिवार का भरण-पोषण रखें, - किस प्रकार तोलना? तब यदि इस जगत का रचनेवाला कोई ईश्वर होता तो उसे ठीक लाहना देते कि तुम्हें तोलना आता है या तोलना नहीं आता? तुम ऐसा तोलते हो? ऐसे महापुरुष अनेक का कल्याण कर जाए, उन्हें तुमने व्यापार में लगा दिया? जवेरी बाजार की दुकान पर बैठा दिया।

‘गुरुदेव’ पहले से निवृत्ति में रहे, दीक्षा ले ली। दुकान पर तो वे भी बैठे थे। तेरह वर्ष की उम्र में बैठे थे। उस समय तो क्या था कि लड़का चार कक्षा पढ़ ले तो जो धन्धा हो, उस धन्धे में लग जाए और धन्धा न होवे तो नोकरी में लग जाए। यह गरीब देश, इसलिए बहुभाग व्यक्ति नोकरी में लग जाते हैं। किसी को छोटा-बड़ा धन्धा होवे तो छोटा-बड़ा धन्धा कर ले, जो हो वह। बड़े भाई ने ‘पालेज’ में व्यापार शुरू कर दिया था, इसलिए वे भी दुकान पर बैठ गये, परन्तु उन्होंने तो दो-तीन वर्ष में ही निवृत्ति का निर्णय ले लिया। उन दिनों तो सोलह वर्ष के लड़को का विवाह कर देते थे, सगाई कर देते थे; इसलिए उन्होंने तो इससे पहले ही किसी महाराज से नियम ले लिया था, फिर जब घर में बात शुरू हुई कि इनकी उम्र हुई है, हम कुछ खोज करें; स्वयं ने घोषित कर दिया कि आप पूछे बिना मैंने अपना (ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा का) कार्य पूरा कर लिया है, आपको कोई कष्ट लेने की आवश्यकता नहीं है, आप मेरी कोई चिन्ता मत करो। मुझे तो कोई अच्छे गुरु मिलें तो दीक्षा

ले लेनी है, मुझे कहीं इस गृहस्थी में नहीं पड़ना है।

तत्पश्चात् दुकान पर भी स्वाध्याय विशेष करते थे। व्यापार में ध्यान कम देते थे। गाँव के उपाश्रय में कोई महाराज आये हों या 'भरुच' के उपाश्रय में (आये हों)। 'भरुच' और 'पालेज' में पच्चीस मीलकी दूरी है। यह सुनें की 'भरुच' के उपाश्रय में कोई महाराज आये हैं तो वहाँ चले जाएँ। इस प्रकार दुकान की उपस्थिति कम हुई, दुकान में भी लक्ष्य कम हुआ। ऐसा करके योगतः दीक्षा ले ली गयी तो पहले से ही निवृत्त रह गये। अन्दर से तो बहुत तेजस्वी थे। दीक्षा ले ली परन्तु तत्त्व तो कुछ मिला नहीं था। सत्य की शोध में थे, खोज में थे। मूल क्या है कि निर्णय था कि मुझे तो निर्दोष हो जाना है। कोई एक कलंक - कषाय कलंक का एक कण भी मुझे नहीं चाहिए। वह तो ऐसा हो तो ही होता है, इसलिए सत्य की शोध में लगे। इसलिए स्थानकवासी के तैंतीस आगम पढ़ लिये। बत्तीस बत्तीस। पैतालीस है न? बत्तीस के बत्तीस पढ़ लिये। बत्तीस पढ़ने में एक ख्याल आ गया कि प्रतिमा का निषेध किया है, परन्तु शास्त्र इनकार करते हैं। शास्त्र में है। स्वयं ने तो चौबीस वर्ष की उम्र में दीक्षा ली थी, युवा मनुष्य, १९४६ में जन्म हुआ, १९७० में दीक्षा ली, बराबर युवा उम्र है।

'पुरुषोत्तमलालजी' नामक एक (साधु थे) 'हीराजी महाराज' के पास दीक्षा ली थी, परन्तु जब उन्होंने शास्त्र पढ़े, फिर एक जानकार और अभ्यासी और जरा पुरानी दीक्षा में भी बड़ी दीक्षा थी, जिन्हें बहुत वर्ष हो गये हों ऐसे 'पुरुषोत्तमलालजी' महाराज थे, उनके पास गये थे। महाराज! अपने बत्तीस आगम में भी जिनप्रतिमा की स्थापना की बात है। पहले तो उन्होंने भी टाला, कहा कि नहीं! नहीं! वह तो यक्ष की प्रतिमा की बात है। तो (उन्होंने) कहा नहीं, नहीं, मैं आपको शास्त्र में से निकाल दूँ। आपको स्वीकार करना पड़ेगा

कि जिनप्रतिमा की बात है, यक्ष की प्रतिमाकी बात नहीं है, अर्थात् उन्हें ख्याल था। 'पुरुषोत्तमलालजी' को पता था कि यह बात जिनप्रतिमा की है, परन्तु सम्प्रदायबुद्धि से सम्प्रदायनुसार बात करनी पड़ती है। इसलिए यदि ये कच्चे होते तो कहते कि हमारे गुरु ने कहा, वे तो बड़े आचार्य है मान लो, परन्तु जब तर्क किया तब उन्हें ख्याल आ गया कि इसके पास झूठ नहीं चलेगा। यह ऐसा व्यक्ति है कि इसके पास झूठ नहीं चलेगा, इसने ध्यान से पढ़ा है और मुझे साबित कर देगा और फिर तर्क में मिथ्या पड़ना (वह ठीक नहीं है।) स्वयं को तो ख्याल था, इसलिए कहा देखो, भाई कानजी ! तुम्हारी बात सत्य है। यह ('गुरुदेव'श्री) स्वयं (कहते) कि मुझे किस प्रकार बात की थी। कि देख, भाई कानजी ! तेरी बात सत्य है, परन्तु हमारे सम्प्रदाय में मूर्ति का नाम नहीं लिया जाता; मूर्ति का नाम ले तो मारेंगे, बाहर निकाल देंगे और कल से पड़गाहेंगे नहीं, रोटियों का लाले (दिक्कत) पड़ जाएगा। उन्हें ऐसा लगा कि इतने बड़े महाराज होकर रोटियों के लिए ऐसा धन्धा करते हैं ! भगवान की प्रतिमा को छुपाते हैं रोटियों के लिए ! हमारे घर में कहां रोटियों की कमी थी ? हमने कहीं रोटियों के लिए दीक्षा थोड़े ही ली थी ? स्वयं ने उस समय इतना सब विचार कर लिया कि इस स्थानकवासी सम्प्रदाय के चाहे जितने साधु हो, उनमें एक भी आत्मार्थी नहीं है। साधु तो नहीं, सम्यग्दृष्टि तो नहीं, परन्तु एक भी आत्मार्थी नहीं है। इतना सब विचार लिया था। यह शब्द बोले थे। मेरे तो यह सब चर्चा प्रत्यक्ष हुई थी। तब ऐसा विचार आया कि उसमें कोई आत्मार्थी नहीं है; साधु का तो प्रश्न कहां है; आत्मार्थी कोई नहीं है। आत्मार्थी ऐसा नहीं करता। आत्मार्थी जिनप्रतिमा का निषेध नहीं करता ऐसा कहना है। ये लोग निषेध करते हैं, इसमें

नहीं रहना है। उस समय नाम बहुत बड़ा था।

एक तो स्वयं का असाधारण व्यक्तित्व Personality एकदम High Personality थी! युवा उम्र! हमने तो वृद्धावस्था में देखा है तो भी ऐसा ऐसा देखा है, तो युवावय में कैसे होंगे? और कड़क क्रिया पालनेवाले, चुस्तक्रिया पालनेवाले। बहुत कड़क क्रिया पालते! जैसा शास्त्र में कहा, उस अनुसार अक्षरशः (पालते) दूसरे प्रकार से हो नहीं। आहार के लिए निकले तो सब थरथरे, कुछ भूल हो जाएगी तो महाराज वापिस चले जाएँगे। हमारे यहाँ से आहार नहीं लेंगे। पधारे कहे तो हो गया, वापिस चले जाएँ। पडगाह - पडगाहते अंगुली छु जाए अथवा गर्म दूध हो, गर्म दाल हो और महिलाओं के कपड़े का सिरा छू जाए, बहिनो के कपड़े का कोई भाग छू जाए (तो कहे) छोड़ दो, रवाना, वापिस चले जाएँ। बहुत कड़क थे। बहुत ख्याति हो गयी थी। ऐसा कहते थे कि हम तो सम्प्रदाय के गलाबूड़ नहीं, माथाबुड़ थे माथाबुड़! ऐसा कहते थे, हाँ! छोड़ दिया सब, नहीं चाहिए, यह सम्प्रदाय नहीं चाहिए, यह समाज नहीं चाहिए। छोड़ दिया।

अब, ऐसे धर्मात्मा को कैसे कि लिए, परिवार के भरण-पोषण के लिए लगना पड़े तो भगवान को उलाहना देना पड़े न! कितने का भला होना रुक गया। यह कोई नियति की विचित्रता है और इसे स्वीकारना ही रहा। क्योंकि वे तो स्वयं अपना आत्मसाधन करने निकले हैं, इसलिए वे तो अपना आत्म साधन प्रवृत्ति में या निवृत्ति में करके छूटते हैं; उन्हें कहीं कोई दरकार नहीं है। मूल तो इसमें यह कहना है कि यह नियति की विचित्रता है।

जिसे शुभयोग में सहन नहीं होता, उसे अशुभयोग में रहना पड़े - यह उस नियति की विचित्रता कितनी? और ऐसी नियति की विचित्रता का ज्ञान करनेवाला तीव्र पुरुषार्थ से आगे बढ़ता है। यह पुरुषार्थ की तीव्रता सूचक बात है।

अब तुम्हारा प्रश्न देखते हैं। पुरुषार्थ बढ़ाना, पुरुषार्थ में तीव्रता लानी चाहिए। प्रतिकूल संयोग योग्यतावाले जीव को पुरुषार्थ बढ़ाने में निमित्त होते हैं, उसका नाम योग्यता है। यदि ज्ञानी को निर्जरा अधिक होती है तो मुमुक्षु को योग्यता बढ़ती है। ऐसा कार्य होता है, दूसरा कुछ नहीं होता। परिणाम बिगड़ नहीं जाते, प्रतिकूलता के आने से कोई परिणाम बिगड़ नहीं जाते, उल्टा परिणाम सुधरते हैं। जोर से तत्त्व का ग्रहण करे। उसे आलम्बन तो तत्त्व का ही है न! संयोग का आलम्बन छोड़ना है। यह निर्णय किया है कि संयोग का आलम्बन छोड़ना है।

वस्तुतः ज्ञानी की दशा में तो क्या है कि जिस परिवार के लिए उसे रुकना पड़ता है, उस परिवार का उसे ज्ञान है कि यह कोई मेरे नहीं है, यह कोई मेरे नहीं है। यह कोई नियति ही ऐसी है कोई ऐसा योग है इसलिए। ये मेरे अपने नहीं हैं। ऐसी आराधना में निर्जरा करना है। परस्पर विरुद्ध है न! प्रवृत्ति मेरेपने करनी पड़ती है और अन्दर में मेरे नहीं है - तो वे निर्जरा विशेष करते हैं।

मुमुक्षु :- तो भी सहन कर लेते हैं।

पूज्य भाईश्री :- सहन कर लें, परन्तु सहन करने में भी उसमें दुःखभाव से सहन नहीं करते। दुःखभाव से सहन नहीं करते, निर्जरा करते हैं - यह एक विशेषता है और योग्यतावाले जीव को ऐसा होना चाहिए। वहाँ तो (ज्ञानी को) क्या है कि परिणति है, अनुभव है, अनुभवसिद्ध है। यहाँ जो समझ करता है, उस समझ का प्रयत्न करने का है कि मैं क्या समझा ? कि संयोग से भिन्नता है और यदि मुझे भिन्नता समझ में आती हो तो उदासीनता आनी चाहिए। उसके बदले अपेक्षा क्यों होती है? अपेक्षा और उदासीनता प्रतिपक्ष में है। विरुद्ध, आमने-सामने खड़े हैं। तो मुझे अपेक्षा क्यों होती है ? मुझे उदासीनता आनी चाहिए। मैं उदासीनता सीखूँ। उदासीनता सीखने के लिए



यह कुदरत ने ऐसी परिस्थिति खड़ी की है।

‘सौभाग भाई’ को क्या कहा? कि परिवार पर तुम्हारा ममत्व छुड़ाने के लिए ईश्वर ने चाहकर तुम्हें प्रतिकूलता भेजी है। यदि प्रतिकूलता नहीं भेजी होती तो तुम ममत्व बढ़ा बैठते, इसलिए ईश्वर ने चाहकर तुम्हें यह प्रतिकूलता भेजी है - यह उपकार मानो। यदि मुमुक्षुजीव को इस कालमें प्रतिकूलता न होवे तो उसे समझना कि कुदरत की कृपा उसके ऊपर कुछ कम है। कुदरत की कृपा कम है - ऐसा समझना। यह तो काम करने का वास्तविक अवसर है, इसलिए कुदरत ने कृपा की है - ऐसा समझना ना। परिणाम बिगाड़ने का विषय नहीं है।

‘श्रीमद्जी’ने इसके लिए एक बहुत सुंदर वचन लिखा है कि इस काल में मुमुक्षु जीव को प्रतिकूलता का उदय आना, वह तिरने बराबर है। क्या कहा? कि तिरने बराबर है। इसलिए प्रतिकृता आवे तो भले ही आवे, अभी से ही स्वयं तैयार होना चाहिए कि तुझे उलझना नहीं है। उलझे तो मुमुक्षु की भूमिका का त्याग हो जाता है, मुमुक्षुता छूट जाती है। उलझना नहीं चाहिए। यह उलझन मिटाने के मार्ग पर तो चढ़े है, उलझन किसकी? उलझनों के हजारों प्रकार चाहे जो हो, यहाँ तो Master Key है। कोई उलझन न हो - ऐसा उपाय हैं।

मुमुक्षु :- ज्ञानियों ने ऐसे वचनों द्वारा बहुत करुणा की है। उनके वचन सामने आते हैं, फिर भी जीव उस बात को गौण कर जाता है।

पूज्य भाईश्री :- उस बात को गौण करता है तो जिसे मुख्य करता है, वहाँ जागृति क्यों नहीं है? मुख्यता करने के लिए जागृति चाहिए कि मैंने इस बात को क्यों मुख्यता दी है? जहाँ मेरी भूल होती है, नुकसान होता है, वहाँ मैं चेतता नहीं। चलते-चलते खड़ा आवे वहाँ मैं चेतकर, टलकर चलता नहीं, आँख बन्द करके

चलता हूँ और फिर पैर मौँच आ जाए तब ऐसा कहूँ कि ले, यह पैर मौँच आ गई। ध्यान न रखे तो मौँच आये नहीं? चलते समय ही ध्यान रखना चाहिए। सीधी बात है।

दूसरा एक सिद्धान्त लेते हैं कि ‘पर्याय ही पर्याय का कर्ता है, त्रिकाली अंश अथवा संपूर्ण द्रव्य नहीं...’ ‘पर्याय ही पर्याय का कर्ता है, त्रिकाली अंश अथवा संपूर्ण द्रव्य नहीं...’ देखा! कितना स्पष्ट निकाला है! वरना प्रमाण अपेक्षा से तो द्रव्य, पर्याय का कर्ता है। त्रिकाली की अपेक्षा से तो कुछ विचार करने का प्रश्न ही नहीं रहता, क्योंकि वह तो एक सामान्य है और यह विशेष है; एक-दूसरे को स्पर्श नहीं करते अथवा सामान्य, तीनों काल में सामान्य रहता है और विशेष कभी सामान्यरूप नहीं होता, सामान्य को स्पर्श नहीं करता परन्तु ‘त्रिकाली अंश अथवा संपूर्ण द्रव्य नहीं।’

‘यह कर्ता-कर्म की चरम सीमा (पराकाष्ठा) है।’ एक समय की पर्याय स्वतन्त्र है - यह कर्ता-कर्म की अन्तिम हद की बात है। चरमसीमा है अर्थात् अन्तिम हद की बात है। इस पर “गुरुदेव’श्री’ षट्कारक लेते हैं। ‘अतः पर्याय में संपूर्ण एकाकार होना योग्य नहीं है।’

प्रश्न :- संपूर्ण द्रव्य जो लिखा कि संपूर्ण द्रव्य नहीं, संपूर्ण द्रव्य अर्थात् ?

समाधान : उसमें मुझे ऐसा है कि अथवा करके लिया है अर्थात् संपूर्ण में अखण्ड द्रव्य लेना होगा। अखण्ड द्रव्य अर्थात् त्रिकाली अथवा अखंड द्रव्य नहीं, एसा लेना होगा। प्रमाण की अपेक्षा से तो द्रव्य परिणमता लिया है - ऐसा बैठता है।

‘यह कर्ता-कर्म अधिकार की चरम सीमा है।’ कर्ता-कर्म की यह चरम सीमा है। ‘अतः पर्याय में संपूर्ण द्रव्य एकाकार होना योग्य नहीं।’ अर्थात् क्या है कि प्रमाण में भी एकान्त लेना नहीं और इसका भी एकान्त लेना नहीं। कथंचित्

स्वतन्त्र है, कथंचित् पर्याय पदार्थ आधीन है, निज पदार्थ आधीन है। पराधीन तो एकान्त से नहीं है - ऐसा लेना। 'सबों को यथायोग्य।' यह कर्ता-कर्म का सिद्धान्त उन्होंने कुदरती ले लिया। तब यह कोई चर्चा नहीं थी। कुदरती उनको जो विचार आया तो थोड़ा लिखते-लिखते लिख दिया।

मुमुक्षु :- कर्ता-कर्म अधिकार पढ़ा जाता है।

पूज्य भाईश्री :- वह बात ली है। कर्ता-कर्म अधिकार पढ़ा जाता है और उस दृष्टि से भी उन्होंने लिखा लगता है। आगे के पहले पेरोग्राफ में बात आयी न! कर्ता-कर्म का अलौकिक अधिकार प्रवचन में पढ़ा जाता है। इस दृष्टि से कर्ता-कर्म का अपना अभिप्राय व्यक्त कर दिया है। वहाँ यह बात नहीं की, कर्ता-कर्म अधिकार में यह बात नहीं है; वहाँ तो राग का कर्ता नहीं है - यह एक ही बात स्थापित की है। देहादिक का तो कर्ता नहीं, परन्तु राग का भी कर्ता नहीं है, यह कर्ता कर्म का विषय है; परन्तु एक समय की पर्याय, ज्ञान की पर्याय का कर्ता त्रिकाली अंश नहीं है - यह बात वहाँ नहीं है।

मुमुक्षु :- यह तो बहुत गहराई में ले गये।

पूज्य भाईश्री :- चरमसीमा तक ले गये हैं। कर्ता-कर्म की चरम सीमा तक ले गये हैं। इसलिए तो 'चरमसीमा' इस शब्द का प्रयोग किया है। अन्तिम हद की तो यह बात है। दूसरी बात है, परन्तु इससे आगे भी अन्तिम हद की यह बात है - ऐसा कहना है।

नीचे 'गुरुदेव'का वचनमृत है। 'आत्मानुभव के बिना सबकुछ शून्य है।' आत्मा के अनुभव बिना जितनी कुछ विशेषतायें हों, वे सब शून्य रखने जैसी है। उनका मूल्य कितना गिनना ? शून्य जितना समझना। चाहे जितनी विचक्षणता हो, विशेषता हो, त्याग, वैराग्य, भक्ति, क्षयोपशम आदि सब अनुभव के बिना शून्य है। अनुभव का एकम होने बाद इस शून्य की किंमत शुरु हुई। वहाँ

तक शून्य की किंमत नहीं है।

'राग होने पर भी साधक के हृदय में सिद्ध भगवान टंकोत्कीर्ण रहते हैं।' भले राग हो, राग का अंश हो, पूरा राग तो कहीं होता नहीं। आंशिक राग साधक की दशा (स्थिति) में चारित्रमोह सप्रमाण होता है, परन्तु उसके श्रद्धा-ज्ञान में, उसके हृदय में अर्थात् श्रद्धा-ज्ञान में निज शुद्ध सिद्ध परमात्मा विराजमान होते हैं। टंकोत्कीर्ण विराजमान है। मिटाया न जा सके इस प्रकार विराजमान है। सम्यग्दृष्टि को राग है न ? - ऐसा पूछे। सम्यग्दृष्टि को राग है न! परन्तु सम्यग्दृष्टि को उसके हृदय में सिद्ध भगवान विराजमान है, वह क्यों नहीं दिखता और तुम्हें राग दिखता है ? तब ज्ञानी ऐसा देखते हैं, मुनि ऐसा देखते हैं कि अरे...! सम्यग्दृष्टि के हृदय में तो सिद्ध भगवान विराजते हैं, मुझे उसके राग के समक्ष कहाँ देखना है ?

एक व्यक्ति ऐसा कहे कि भाई! अभी मेरे पच्चीस लाख रुपये दान में ले लो। आपको जो प्रभावना करनी हो वह करो। अब किसी जगह ऐसा कहे कि यहाँ जरा इतना खर्च नहीं करके, इस जगह कम खर्च करना - तो उसके सामने देखेंगे क्या ? देखा जाए उसके सामने ? नहीं देखा जाए। तुम ऐसा कहोगे कि यहाँ जरा-सा समझकर खर्च करूँगा, अधिक नहीं करेंगे, ठीक ! उसे ऐसा कहा जाता है कि तुम लोभी हो, लोभी। ऐसी क्या बात करते हो ? उसे ऐसा कहा जाता है ? नहीं कहा जाता।

इसी प्रकार जिसने सिद्ध भगवान को अपने मस्तक पर धारण किया हैं, सिद्धभगवान को श्रद्धा-ज्ञान के मस्तक पर धारण (किया है)। भगवान को मस्तक पर चढ़ाते हैं न ? श्रद्धा-ज्ञान की पर्याय है, उत्कृष्ट अंग है। श्रद्धा-ज्ञान निर्मल हुए हैं, उत्कृष्ट अंग है न ! वह उत्कृष्ट अंग है। चरण है वह निकृष्ट अंग है। सिद्ध भगवान को देखना या एक अंश में राग होता है, उसे देखना ? किसे

देखना है? क्यों ऐसा राग हुआ ? अरे..! परन्तु तू किसे देखता है ? देखना है, उसे नहीं देखता और नहीं देखना उसे देखता है।

‘कारण परमात्मा, वही वास्तव में आत्मा है।’ जो कारण परमात्मा है, वही वास्तव में आत्मा है। कारण परमात्मा, वही वास्तव में आत्मा है। ‘त्रिकाली ध्रुव सामान्य है, एक वही सर्व कथनों का सार है।’ कारण परमात्मा है, वही वास्तव में अर्थात् अन्दर में शुद्ध स्वरूप है, वही आत्मा है। राग-द्वेष, मोह के परिणाम, वह कहीं आत्मा नहीं है, आत्मा का स्वरूप नहीं है, उसके साथ इसे मेल भी नहीं है। इसलिए वही आत्मा है। ‘त्रिकाली ध्रुव सामान्य है, एक वही सर्व कथनों का सार है।’ वही कारण परमात्मा है और वही समस्त तत्त्वों में, नवतत्त्वों में कोई सार हो तो एक यह तत्त्वार्थ सार है - शुद्धात्मा; दूसरा कोई सार नहीं है। हमने एक बार कारण परमात्मा कहकर बात ली थी न!

उसे कारण परमात्मा इसलिए कहते हैं कि कार्य होने में आलम्बनभूत विषय है। वह कार्य होने में आलम्बनभूत विषय है अथवा परमात्मा का दर्शन होने में, निज परमात्मा का दर्शन होने में वह स्वयं कारणरूप होता है, कारणरूप में खड़ा है। ऐसी उपमा ली थी।

अन्यमत में यह सब प्रकार है न! भगवान दर्शन देने आते हैं, ऊपर से भगवान दर्शन देने आते हैं। घर में दरवाजा बन्द करके सो गया हो और अर्धरात्रि आवे उन दिनों तो Doorbell नहीं थी, इसलिए कड़ी खटखटावे खोल! तू रोज स्मरण करता है तो अभी आने का मन हुआ, इसलिए आया हूँ। सांकल खड़खटाते हैं। ऐसे ही पर्याय के दरवाजे पर आकर कारण परमात्मा अनन्त काल से कड़ी खटखटाता है कि तेरी पर्याय का दरवाजा खोल! दरवाजा खोल ! मैं खड़ा ही हूँ! सदा ही सामने मौजूद है। वे तो किसी-दिन आवे और वापिस अन्तर्धान भी हो जाए।

यह तो अनादि से आये हुए हैं और कभी थकते भी नहीं, वापिस नहीं जाते, खड़े ही है और खटखटाते ही रहते है। स्वयं दरवाजा खोले तो तुरन्त दर्शन होवे ऐसा है। जाए नहीं कहीं। उसकी अनन्त करुणा है न! जाए नहीं, वह वापस नहीं जाता। तू नहीं खोले तो कुछ नहीं। मैं अपना कार्य नहीं छोड़ूंगा। तू तेरा कर्तव्य चूके तो कहीं मैं मेरा कर्तव्य चूक जाऊँ - ऐसा किसने कहा? वह तो खटखटाये ही रखता है। खोल! दरवाजा खोल! मैं खड़ा ही हूँ। उसका नाम कारण परमात्मा है।

(यह जीव) अवहेलना करता है, उपेक्षा करता है, अपमान करता है तो भी नहीं जाता-ऐसा है। इसे अनन्त करुणा की मूर्ति कहा जाता है। कारणरूप से खड़ा ही रहता है, खटखटाया ही करता है। खोल रे खोल! तू दरवाजा खोल!

प्रश्न :- पर्याय के दरवाजे अर्थात् क्या ?

समाधान :- अर्थात् क्या है कि वह मुँह फेरकर बैठा है अथवा मिथ्याश्रद्धा का पिटारा खोलकर सम्यक्श्रद्धा कर दे, मिथ्याज्ञान का पिटारा खोलकर (सम्यग्ज्ञान का) पिटारा खोल दे ऐसा कहते हैं।

वह परमात्मा ऐसा है कि जिसके दर्शनमात्र से केवलज्ञान प्रकट होता है; सम्यग्दर्शन प्रकट हो, इसमें क्या आश्चर्य है? सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होना, वह तो साधारण बात हुई; केवलज्ञान प्रकट हो - ऐसा परमात्मा है। इसलिए उसे कारण परमात्मा कहा है और केवलज्ञान को कार्य परमात्मा कहा है। कार्य परमात्मा होवे, उसे वह कारण परमात्मा है।

प्रश्न :- ‘सार’ शब्द है, वह अवलम्बन के लिए है।

समाधान :- हाँ, सार है, वह अवलम्बन के लिए कहा है। सार है, हितरूप है, सुखरूप है, सब उसमें आता है। सार अर्थात् हितरूप और सुखरूप। पहले कलश में ‘राजमल्लजी’ने यह अर्थ किया है। समयसार! सार अर्थात् हितरूप और सुखरूप।

४३०

बंबई, माघ वदी ३०, गुरु, १९४९  
यहाँ प्रवृत्ति-उदयसे समाधि है। आपको लीमडी संबंधी जो विचार रहता है, वह करुणा भावके कारणसे रहता है, ऐसा हम समझते हैं।

कोई भी जीव परमार्थको मात्र अंशरूपसे भी प्राप्त होनेके कारणोंको प्राप्त हो, ऐसा निष्कारण करुणाशील ऋषभादि तीर्थकरोंने भी किया है; क्योंकि सत्पुरुषोंके संप्रदायकी ऐसी सनातन करुणावस्था होती है कि समयमात्रके अनवकाशसे समूचा लोक आत्मावस्थामें हो, आत्मस्वरूपमें हो, आत्मसमाधिमें हो, अन्य अवस्थामें न हो, अन्य स्वरूपमें न हो, अन्य आधिमें न हो; जिस ज्ञानसे स्वात्मस्थ परिणाम होता है, वह ज्ञान सर्व जीवोंमें प्रगट हो, अनवकाशरूपसे सर्व जीव उस ज्ञानमें रुचियुक्त हों, ऐसा ही जिसका करुणाशील सहज स्वभाव है, वह सनातन संप्रदाय सत्पुरुषोंका है।

आपके अंतःकरणमें ऐसी करुणावृत्तिसे लीमडीके विषयमें वारंवार विचार आया करता है, और आपके विचारका एक अंश भी फल प्राप्त हो अथवा वह फल प्राप्त होनेका एक अंश भी कारण उत्पन्न हो तो इस पंचमकालमें तीर्थकरका मार्ग बहुत अंशोंसे प्रगट होनेके बराबर है, तथापि वैसा होना संभव नहीं है, और उस मार्गसे होने योग्य नहीं है, ऐसा हमें लगता है। जिससे संभव होना योग्य है अथवा इसका जो मार्ग है, वह अभी तो प्रवृत्तिके उदयमें है; और वह कारण जब तक उनको लक्ष्यगत न हो तब तक दूसरे उपाय प्रतिबंधरूप हैं, निःसंशय प्रतिबंधरूप हैं।

जीव यदि अज्ञानपरिणामी हो तो जैसे उस अज्ञानका नियमितरूपसे आराधन करनेसे कल्याण नहीं है वैसे यह मोहरूप मार्ग अथवा यह लोकसंबंधी जो मार्ग है वह मात्र संसार है; उसे फिर चाहे जिस आकारमें रखें तो भी संसार है। उस संसारपरिणामसे रहित करनेके लिये असंसारगत वाणीका अस्वच्छंदपरिणामसे जब आधार प्राप्त होता है, तब उस संसारका आकार निराकारताको प्राप्त होता जाता है। वे अपनी दृष्टिके अनुसार दूसरे प्रतिबंध किया करते हैं, उसी प्रकार वे अपनी उस दृष्टिसे ज्ञानीके वचनोंकी आराधना करें तो कल्याण होने योग्य नहीं लगता। इसलिये आप वहाँ ऐसा सूचित करें कि आप किसी कल्याणके कारणके नजदीक होनेके उपायकी इच्छा करते हों तो उसके प्रतिबंध कम होनेके उपाय करें, और नहीं तो कल्याणकी तृष्णाका त्याग करें। आप ऐसा समझते हों कि हम जैसे वर्तन करते हैं वैसे कल्याण है, मात्र अव्यवस्था हो गयी है, वही मात्र अकल्याण है, ऐसा समझते हों तो यह यथार्थ नहीं है। वस्तुतः आपका जो वर्तन है, उससे कल्याण भिन्न है, और वह तो जब जब जिस जिस जीवको वैसा वैसा भवस्थित्यादि समीप योग होता है तब तब उसे वह प्राप्त होने योग्य है। सारे समूहमें कल्याण मान लेना योग्य नहीं है, और यदि ऐसे कल्याण होता हो, तो उसका फल संसारार्थ है, क्योंकि पूर्वकालमें ऐसा करके ही जीव संसारी रहता आया है। इसलिये वह विचार तो जब जिसे आना होगा, तब आयेगा। अभी आप अपनी



(शेष अंश पृष्ठ संख्या-११ पर)

## पूज्य बहिनश्री की तत्त्वचर्चा

प्रश्न :- आता है न ? कि ज्ञानीका एक शब्द कानोंमें पड़नेसे अंतर्परिवर्तन हो जाता है ?

समाधान :- अपने पुरुषार्थसे परिवर्तन होता है, बिना पुरुषार्थके नहीं; इसलिये सर्वत्र अपना उपादान है। गुरुदेव कहते हैं न ? कि कईबार भगवान् मिले, परन्तु अपनी खामीके कारण पलटा नहीं खाया। भगवान्का निमित्त तो बलवान् था, गुरुदेवका निमित्त भी जोरदार था; परंतु स्वयं पलटा नहीं खाता। (स्वानुभूतिदर्शन-२९९)



प्रश्न :- पलटा खानेकी भावना तो है, किन्तु क्या करें पुरुषार्थ नहीं उपड़ता ?

समाधान :- जो बेड़ीसे अकुलाया हो वह बेड़ीको तोड़नेका मार्ग ढूँढे बिना रहता ही नहीं। स्वयं अकुलाया है कि यह बेड़ी कैसे टूचे ? तब किसी भी प्रकार उसका मार्ग निकालकर तथा साधन एकत्रित करके उसे तोड़े बिना नहीं रहता। वैसे ही जो सचमुच अकुलाया हुआ हो, वह छूटे बिना रहता ही नहीं। अंतरसे सच्ची लगी नहीं, तीव्र छटपटी नहीं है। सचमुच लगे तो स्वयं ही तोड़नेका प्रयत्न करता है। (स्वानुभूतिदर्शन-३००)



प्रश्न :- ऐसा लगता है कि पूज्य गुरुदेवका तथा आपका सत्संग और सुयोग प्राप्त हुआ है तो बारम्बार आपका परिचय करें, आपके सान्निध्यमें श्रवण-पठनादि करें, परन्तु यह पलटा खानेकी बात कठिन पड़ती है।

समाधान :- अंतरमें उसे धीर होकर, सूक्ष्म होकर गहराईमें जाना पड़ता है सो नहीं जाता और अनादिसे वही का वही किया करता है इसलिये कठिन पड़ती है। स्वयं अंतरमें विचार करके देखे कि किस कारणसे रुका हुआ है, वह तो स्वयं

ही पकड़ सकता है। स्वयं रुका हुआ है, दूसरा कोई नहीं रोकता।

(स्वानुभूतिदर्शन-३०१)



प्रश्न :- पलटना इतना अधिक कठिन है कि पलटा होता ही नहीं।

समाधान :- अनादिका दूसरा अभ्यास है, इसलिये कठिन लगता है; किन्तु कठिन नहीं, सहज है। अपने आलस्यके कारण जगता ही नहीं है। वैसे तो जागना अपने हाथमें है। गुरुदेवकी वाणीने सबको जागृत कर दिया है और सबको आत्माके प्रति रुचि उत्पन्न हुई है, परन्तु अब पुरुषार्थ करना अपने हाथकी बात है। संसार निःसार है, आत्मा ही एक सारभूत है। कितने ही जीवोंको रुचि हुई है, परन्तु अब आगे बढ़ना तो अपने हाथकी बात है। (स्वानुभूतिदर्शन-३०२)



प्रश्न :- किस प्रकार चला हुआ जीव आगे बढ़ सकता है ?

समाधान :- अन्य किसी हेतुसे—किसी बड़प्पन आदिके प्रयोजनसे—नहीं चला हो, किन्तु सब यथार्थ समझकर अर्थात् द्रव्य-गुण-पर्यायका यथार्थ स्वरूप समझकर एक आत्माके प्रयोजनसे चला हो वह आगे बढ़ सकता है। प्रत्येक पहलू-चारों ओरसे समझपूर्वक द्रव्य-गुण-पर्यायका स्वरूप समझकर, तथा मुझे तो एक आत्महित ही करना है, यह सब दुःखरूप है, आत्मा ही सुखरूप है—इसप्रकार अनेक रीतिसे यथार्थ रूपसे चला हो तो वह आगे जाता है। किसी प्रकारकी आशा-कीर्तिकी पिपासाके प्रयोजनके बगैर और समझपूर्वक चला हो वह आगे जाता है।

(स्वानुभूतिदर्शन-३०३)



---

ज्ञानवैभवधारी सातिशय श्रुतज्ञानके धनी भावि तीर्थाधिनाथ की  
भेंट करानेवाले चैतन्यरत्न प्रशममूर्ति धन्यावतार  
पूज्य बहिनश्री चंपाबहिन को उनके ९९वें  
मंगलकारी जन्मजयंती प्रसंग पर शत शत वंदन !!



(पूज्य बहिनश्री) गणधरका जीव हैं, इसलिये भविष्यमें वे बारह अंगकी रचना करेंगे। बहिनश्रीकी नजर बहुत सूक्ष्म थी जैसे कि वर्तमान समाजको वास्तवमें क्या देना जरूरी है, यह उनके ज्ञानमें बहुत आया है। उनके वचनामृत प्रसिद्ध हुए तब गुरुदेव फिदा हो गये! आफरीन हो गये! एक-एक बोलमें अकेला अध्यात्मका अमृत भरा है ऐसा कहना होगा। ...भावनाका विषय प्रस्थापित करके तो उन्होंने जैसे फैंसला ही कर दिया है। मुमुक्षुओंको तो जैसे एक रत्न ही हाथमें आ गया ऐसा कहना होगा।  
(पूज्य भाईश्री शशीभाई)